□ डॉ० छगनलाल शास्त्री
एम. ए. (त्रिधा), पी-एच. डी.
प्रोफेसर—मद्रास विश्वविद्यालय

आचार्य हरिभद्र के प्राकृत योग ग्रन्थों का मूल्यांकन

भारतीय वाङ्मय में प्राकृत का अपना महत्वपूर्ण स्थान है। विभिन्न प्राकृतों का यत्किंचित् प्रादेशिक भेद के साथ भारोपीय भाषा-परिवार या आर्यभाषा-परिवार के क्षेत्र में भारत के पश्चिमी, पूर्वी, उत्तरी एवं मध्य भाग में जन-जन में लोक भाषा के रूप में व्यापक प्रचलन रहा है।

भाषाशास्त्रियों ने भाषा-परिवारों का विश्लेषण करते हुए प्राकृतों की मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं (Middle Indo Aryan Languages) में परिगणना की है। उनके अनुसार भारतीय आर्य-भाषाओं के विकास-क्रम के अन्तर्गत प्राकृत का काल ई. पू. ५०० से माना जाता है, पर यदि हम गहराई में जाएँ तो यह विकासक्रम का स्थूल निर्धारण प्रतीत होता है। प्राचीन आर्य भाषाएँ (Early Indo Aryan Languages) जिनका काल ई० पू० १५०० से ई. पू. ५०० माना जाता है, का प्रारम्भ छन्दस् या वैदिक संस्कृत से होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह विवेचन छन्दस् के साहित्यिक रूप को दृष्टिगत रखकर किया गया है। वैदिक संस्कृत जन-साधारण की बोलचाल की भाषा रही हो, ऐसा संभावित नहीं लगता। तब वैदिक संस्कृत के समकक्ष लोगों में दैनन्दिन प्रयोग की दृष्टि से अवश्य ही कतिपय प्रादेशिक बोलियाँ रही होंगी।

महाभाष्यकार पतंजलि ने महाभाष्य के प्रारंभ में व्याकरण या शब्दानुशासन का लक्ष्य निरूपित करते हुए लिखा है—

"जो शब्दों के प्रयोग में कुशल है, जो शब्दों का समुचित रूप में उपयोग करना जानता है, वह व्यवहार-काल में उनका यथावत् सही-सही उपयोग करता है।"

भाषा के शुद्ध प्रयोग की फलनिष्पत्ति का जिक्र करते हुए वे कहते हैं—"ऐसा करना न केवल इस लोक में उसके लिए श्रेयस्कर होता है, वरन् परलोक में भी यह उसके उत्कर्ष का हेतु है। जो अशुद्ध शब्दों का प्रयोग करता है, वह दोषभाक् है।"[1]

आगे उन्होंने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है—"एक एक शब्द के अनेक अपभ्रंश-रूप प्रचलित हैं।" अपभ्रष्ट रूपों में उन्होंने गो के अर्थ में प्रचलित गावी, गोणी, गोपतलिका का उल्लेख किया है।[2]

इस उल्लेख से यह स्पष्ट है कि महाभाष्यकार का संकेत उन बोलियों की ओर है, जो छन्दस्काल में लोक प्रचलित थीं। बोलचाल की भाषाओं में रूप-वैविध्य का होना सर्वथा स्वाभाविक है।

---

१. महाभाष्य प्रथम आह्निक पृ. ७।

२. महाभाष्य प्रथम आह्निक पृ. ८।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऐसा प्रतीत होता है, विभिन्न प्रदेशों में प्रचलित वे बोलियाँ प्राचीन प्राकृतें रही हों, जिनका लोग व्यवहार करते थे। उन्हीं के आधार पर परिष्कार-पूर्वक छन्दस् या वैदिक संस्कृत का स्वरूप निर्मित हुआ हो।

यद्यपि यह अब तक विवाद का विषय रहा है कि संस्कृत तथा प्राकृत में किसे प्राचीन माना जाये पर प्राकृत की प्रकृति देखते ऐसा कहा जाना असंगत नहीं होगा कि छन्दस् के काल में भी जन-व्यवहार्य भाषा के रूप में उसका अस्तित्व रहा है। अतः उसकी प्राचीनता छन्दस् से परवर्ती कैसे हो सकती है?

भगवान् महावीर एवं बुद्ध के समय में, और आगे भी प्रायः समग्र उत्तर भारत में मागधी, अर्द्ध मागधी, शौरसेनी एवं पैशाची आदि का जन-भाषाओं के रूप में अव्याबाध प्रचलन रहा है। महावीर द्वारा अपने उपदेशों के माध्यम के रूप में अर्द्धमागधी का स्वीकार तथा बुद्ध द्वारा मागधी (पालि) का स्वीकार यह सिद्ध करता है।

समवायांग सूत्र, आचारांग चूर्णि, दशवैकालिक वृत्ति आदि में इस आशय के उल्लेख हैं कि तीर्थंकर अर्द्धमागधी में धर्म का आख्यान करते हैं।[1]

फलतः प्राचीनतम श्वेताम्बर जैन वाङ्मय जो द्वादशांगी के रूप में विश्रुत है, उसमें से ग्यारह अंग हमें अर्द्धमागधी में प्राप्त हैं। बारहवाँ अंग दृष्टिवाद विच्छिन्न माना जाता है। अंगों के आधार पर उपांग, छेद, मूल, आवश्यक, प्रकीर्णक आदि के रूप में विपुल साहित्य अर्द्धमागधी में ही सर्जित हुआ।

विनय पिटक, सुत्त पिटक, अभिधम्म पिटक तथा तत्परवर्त्ती बौद्ध साहित्य पालि में रचित हुआ।

अर्द्धमागधी आगम एवं बौद्ध पिटक भारत का वह प्राचीनतम साहित्य है, जिसका न केवल जैन धर्म एवं बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों के निरूपण की दृष्टि से ही महत्व है, वरन् तत्कालीन भारत के लोक-जीवन, समाज, रीति-नीति, व्यापार, कृषि, प्रशासन, न्याय, व्यवस्था, भोजन, वस्त्र आदि जीवन के सभी अपरिहार्य पक्षों पर भी वह बड़ा विशद प्रकाश डालता है।

दिगम्बर परम्परा का प्राचीन साहित्य शौरसेनी में है। शौरसेनी का भारत के पश्चिमी भाग में प्रचलन था। षट्खण्डागम के रूप में शौरसेनी में जो साहित्य हमें उपलब्ध है, वह निश्चय ही कर्म-सिद्धान्त पर विश्व के दर्शनों में अपना अप्रतिम स्थान लिये है।

धर्म-सिद्धान्तों के निरूपण से संपृक्त होने के कारण जैन परम्परा का प्राकृत के साथ जो तादात्म्य जुड़ा, वह आगे भी अनवरत गतिशील रहा।

यह भी ज्ञातव्य है, अपने प्रचलन-काल में प्राकृत की व्यापकता केवल जैनों तक ही सीमित नहीं रही। प्राकृत जन-जन की भाषा थी। संस्कृत नाटकों में जहाँ शिष्ट-विशिष्ट पात्रों के लिए संस्कृत का प्रयोग हुआ है, वहाँ लोकजनीन पात्रों के लिए, जिनमें व्यापारी, किसान, मजदूर, भृत्य, स्त्रियाँ, बालक आदि का समावेश है, विभिन्न प्राकृतों का प्रयोग हुआ है। उससे प्राकृत की सर्वजन भोग्यता सहज ही सिद्ध होती है।

आगे चलकर साहित्यिक भाषा के रूप में महाराष्ट्री प्राकृत का विकास हुआ, जिसमें साहित्य की विभिन्न विधाओं में रचना हुई।

इस सन्दर्भ में आगे बढ़ते हुए हम आ० हरिभद्र सूरि के काल में प्रविष्ट होते हैं। यद्यपि वह साहित्य के क्षेत्र में लौकिक संस्कृत (Classical Sanskrit) का उत्कर्षकाल था, दर्शन, न्याय, व्याकरण, काव्य आदि पर संस्कृत में लिखने को लेखक

१. (क) समवायांग सूत्र ३४. २२, २३ (ख) दशवैकालिक वृत्ति पृ. २२३।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अधिक उत्साहित थे, पर जैन लेखकों ने प्राकृत में भी लिखना चालू रखा। आ० हरिभद्रसूरि इसके उदाहरण हैं।

आ० हरिभद्र के काल के सम्बन्ध में विद्वानों ने काफी ऊहापोह किया है। अन्ततः पुरातत्त्व के प्रख्यात विद्वान तथा अन्वेषक मुनि जिनविजय ने उस पर सूक्ष्म गवेषणा की। उन्होंने आचार्य हरिभद्रसूरि का समय ई. सन् ७००-७७० निर्धारित किया, जिसे अधिकांश विद्वान् प्रामाणिक मानते हैं।

प्राचीन लेखकों तथा आधुनिक समीक्षकों द्वारा किये गए उल्लेखों के अनुसार हरिभद्र ब्राह्मण-परम्परा से श्रमण-परम्परा में आए थे। वे चित्रकूट > चित्तऊड > चित्तोड़ या चित्तौड़ के राजपुरोहित वंश से सम्बद्ध थे। अपने समय के उद्‌भट विद्वान थे। याकिनी महत्तरा नामक जैन साध्वी के सम्पर्क में आने से जैन धर्म की ओर आकृष्ट हुए। जैन धर्म में श्रमण के रूप में प्रव्रजित हुए। वैदिक परम्परा के तो वे महान् पण्डित थे ही साथ ही साथ बौद्ध दर्शन के भी मर्मज्ञ थे। जैन शास्त्रों का उन्होंने गहन अध्ययन किया। फलतः उनके वैदुष्य में एक ऐसा निखार आया, जो निःसंदेह अद्वितीय था।

आ० हरिभद्र की भारतीय वाङ्मय को बहुत बड़ी देन है। उन्होंने अनेक विषयों पर विपुल साहित्य रचा, आगमों पर व्याख्याएँ लिखीं, धर्म व दर्शन पर रचनाएँ कीं, कथा-कृतियाँ भी रचीं। परम्परा से उन्हें १४००, १४४० या १४४४ प्रकरणों का रचनाकार माना जाता है। यह स्पष्ट नहीं है कि प्रकरण का तात्पर्य एक पुस्तक है अथवा पुस्तक के अध्याय या भाग। सारांशतः छंटाई करने पर प्राप्य-अप्राप्य लगभग पचास ग्रन्थ ऐसे हैं, जिन्हें आचार्य हरिभद्र-रचित माना जाना सन्देहास्पद नहीं है।

प्रस्तुत निबन्ध में आचार्य हरिभद्र द्वारा जैन-योग पर प्राकृत में रचित कृतियों पर विचार करेंगे।

वह एक ऐसा समय था, जब भारतवर्ष में विभिन्न धर्म-परम्पराओं में योग के नाम से आध्यात्मिक साधना के अनेक उपक्रम गतिशील थे। योग शब्द का पतंजलि ने चित्तवृत्ति-निरोध[1] के रूप में जो उपयोग किया है, जैन परम्परा में वैसा लगभग नहीं रहा है। वहाँ योग[2] आस्रव है, जो मानसिक, वाचिक एवं कायिक प्रवृत्तियों से जुड़ा है। चैतसिक शुद्धि, अन्तःपरिष्कार या कर्म-निर्जरण के लिए जैन परम्परा में तप[3] का स्वीकार हुआ है। औपपातिक सूत्र[4] आदि आगम-ग्रन्थों में तप के सम्बन्ध में विस्तृत विश्लेषण है।

तपश्चरण का क्रम भारतवर्ष में बहुत प्राचीनकाल से प्रायः सभी धार्मिक परम्पराओं में रहा है। महान् प्रज्ञा पुरुष पं० सुखलालजी[5] संघवी के अनुसार कभी इस देश में ऐसे साधकों की परम्परा रही है, जो सांसारिक भोग, सुख-सुविधाएँ, मान-अपमान आदि सभी अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों से सर्वथा अलिप्त, असंस्पृष्ट रहते हुए घोर तपोमय, पशु-पक्षी जैसा सर्वथा निष्परिग्रह जीवन जीते थे। उन्हें अवधूत शब्द से अभिहित किया जाता रहा है। भागवत[6] में ऋषभ का एक अवधूत योगी के रूप में वर्णन आया है। वर्तमान अवसर्पिणी के प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभ का जैन साहित्य में जो वर्णन आता है, उससे भागवत का वर्णन तितिक्षु दृष्टि से बहुत कुछ मिलता-जुलता सा है। भागवत

---

१. योगसूत्र १.२।

२. तत्त्वार्थसूत्र ६.१-२।

३. तत्त्वार्थ सूत्र ९.३, १९-२०।

४. औपपातिक सूत्र ३०।

५. समदर्शी आ. हरिभद्र पृ. ६३-६५।

६. भागवत ५.५, २८-३५, ५.६, ५.१९।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के ११वें स्कन्ध में अवधूत दत्त या दत्तात्रेय की चर्चा है, जिन्होंने अपने द्वारा विविध रूप में गृहीत शिक्षाओं के कारण अपने चौबीस गुरु माने थे।

आचारांग का धूताध्ययन (प्रथम श्रुतस्कन्ध षष्ठ अध्ययन) तथा विशुद्धिमग्ग का धूतांग-निर्देश अवधूत परम्परा की ओर संकेत करते प्रतीत होते हैं। भाषा-विज्ञान में निर्देशित प्रयत्नलाघव या संक्षिप्तीकरण की प्रक्रिया के अनुसार 'अव' उपसर्ग हटाकर केवल धूत रख लिया गया हो। धूत 'धू' कम्पने का कृदन्त रूप है। अवधूत के सन्दर्भ में इसका आशय उस साधक से है, जिसने कर्म-शत्रुओं को कंपा डाला हो, झकझोर दिया हो, हिला दिया हो।

साथ ही साथ तापसों की भी विशेष परम्पराएँ इस देश में रही हैं, जिनकी तपःसाधना ब्राह्मण और श्रमण परम्परा का मिला-जुला रूप लिए थीं। औपपातिक सूत्र[1] आदि में जो विभिन्न परिव्राजकों, तापसों का वर्णन आया है, वह इस पर प्रकाश डालता है। आ० हरिभद्रसूरि ने समराइच्चकहा में कुलपति आर्जव कौण्डिन्य, सुपरितोष नामक तपोवन तापस-आश्रम और वहाँ दीक्षित अग्निशर्मा के तप का जो उल्लेख किया है, उससे तापस-परम्परा की प्राचीनता अनुमित होती है।[2]

आगे जाकर साधकों की पुराकालवर्ती अवधूत एवं तापस परम्परा के परिष्करण तथा नवीकरण में पतंजलि का योगसूत्र बहुत प्रेरक बना, ऐसा सम्भावित लगता है। क्योंकि उत्तरवर्ती काल में साधना के सन्दर्भ में जो विकास हुआ, उसमें दैहिक अभ्यास का स्थान अपेक्षाकृत गौण होता गया और धारणा, ध्यान एवं समाधिपरक आन्तरिक शुद्धि की ओर साधकों का आकर्षण बढ़ता गया।

आ० हरिभद्रसूरि इन सब परम्पराओं का गहराई से अध्ययन कर चुके थे। जिन तपःक्रमों, साधना पद्धतियों, यौगिक क्रिया-प्रक्रियाओं के परिपार्श्व में विकास पाती योग-साधना उनके समय तक जिस रूप में पनप चुकी थी, उससे वे भलीभांति परिचित थे। समय की माँग को देखते उन्हें यह आवश्यक प्रतीत हुआ कि जैन चिन्तनधारा को केन्द्र में रखते हुए योग का एक ऐसा रूप उपस्थित किया जाए, जो तत्सम्बन्धी सभी विचारधाराओं का समन्वय लिए हुए हो, जिसे अपनाने में किसी को कोई आपत्ति न लगे।

योग के क्षेत्र में इस प्रकार का चिन्तन करने वाले आ० हरिभद्र सम्भवतः पहले व्यक्ति थे। क्योंकि तत्पूर्ववर्ती लगभग सभी योगाचार्यों ने अपनी अपनी परम्पराओं को ही उद्दिष्ट कर साहित्य-रचना की।

आ० हरिभद्र ने योग पर चार ग्रन्थ लिखे—१. योगदृष्टिसमुच्चय, २. योगबिन्दु, ३. योगशतक तथा ४. योगविंशिका।

योगदृष्टिसमुच्चय और योगबिन्दु संस्कृत में हैं। ये अपेक्षाकृत विस्तृत हैं। योगदृष्टिसमुच्चय में २२८ तथा योगबिन्दु में ५२७ श्लोक हैं। सभी अनुष्टुप् छन्द में हैं। इन ग्रन्थों में लेखक ने अन्यान्य योग-परम्पराओं में स्वीकृत विचारों के साथ तुलनात्मक समन्वयात्मक दृष्टि से जैन साधनाक्रम को योग की शैली में उपस्थित करने का स्तुत्य प्रयास किया है।

योगदृष्टि समुच्चय में इच्छायोग, शास्त्रयोग, सामर्थ्ययोग[3] मित्रा, तारा, बला, दीप्रा, स्थिरा, कान्ता, प्रभा, परा—आठ योगदृष्टियों[4], ओघदृष्टि योगदृष्टि[5] तथा कुलयोगी, गोत्रयोगी, प्रवृत्तचक्र-योगी, निष्पन्नयोगी[6] के रूप में योगियों के भेदों का

---

१. औपपातिक सूत्र ७४-९९।

२. समराइच्चकहा प्रथम भव।

३. योगदृष्टिसमुच्चय २-११।

४. योगदृष्टिसमुच्चय १३, १४।

५. योगदृष्टिसमुच्चय १४-१६।

६. योगदृष्टिसमुच्चय २०७-१२।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो विवेचन किया है, वह सर्वथा मौलिक है, अन्यत्र प्राप्त नहीं होता।

इसी प्रकार योगबिन्दु में पूर्वसेवा आदि प्रकरण हैं, जो योग के क्षेत्र में नवीनता जोड़ते हैं।

एक और बड़े महत्व की बात है, जिसका उल्लेख करना अपरिहार्य है। आ० हरिभद्र ने योगबिन्दु में गोपेन्द्र[1] तथा कालातीत[2] नामक योगाचार्यों का उल्लेख किया है, जिनकी सूचना अन्यत्र कहीं नहीं मिलती। उन्होंने समाधिराज[3] तक की चर्चा की है, जो योग पर एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है, जिसे उत्तम समाधि के अर्थ में समझने की भूल होती रही। यह संस्कृत प्राकृत के मिले-जुले रूप में रचित ग्रन्थ हैं, जिनके चीनी भाषा में, भोटभाषा में भी अनुवाद हुए।

आ० हरिभद्र का दृष्टिकोण बड़ा अनैकान्तिक, उदार, समन्वयवादी और सर्वथा गुणनिष्ठापरक था। यही कारण है, वे निःसंकोच कह सके—

पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद् वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः।
—लोकतत्व निर्णय ३८

शास्त्रवार्तासमुच्चय[4] एवं योगबिन्दु[5] में इस आशय के और भी प्रसंग आये हैं, जो आ० हरिभद्र की असंकीर्ण चिन्तनधारा के द्योतक हैं।

योगशतक एवं योगविंशिका आ० हरिभद्र की प्राकृत-रचनाएँ हैं, जिनमें व्यापक चिन्तनधारा के परिपार्श्व में जैनसिद्धान्तों के केन्द्र से योग का निखार हुआ है। ग्रन्थकार ने जैन तत्त्वदर्शन और तद्गर्भित साधनामूलक आचारविधा को योग की नई शैली में अपनी इन कृतियों में उद्भासित किया है, जिससे जैन-दर्शन की गरिमा का प्राशस्त्य बड़ा है।

योगशतक :—

भारत में शतपद्यात्मक कलेवरमय रचनाएँ शतकों के नाम से होती रही हैं। जिनभद्रगणि क्षमा श्रमण कृत ध्यानशतक तथा आ० पूज्यपाद रचित समाधिशतक ऐसी ही रचनाएँ हैं। आगे भी यह क्रम गतिशील रहा, जिसमें आ० हरिभद्र का योगशतक आता है। इसमें एक सौ एक पद्य हैं। वे आर्या छन्द में हैं, जो प्राकृत में गाथा के नाम से प्रसिद्ध है।

ग्रन्थकार ने योगशतक में मंगलाचरण के पश्चात योग की परिभाषा तथा उसके भेद बतलाते हुए लिखा है—

निच्छयओ इह जोगो सन्नाणाईण तिण्ह संबंधो।
मोक्खेण जोयणाओ निद्दिट्ठो जोगिनाहेहिं ॥२॥

निश्चयदृष्टि से सम्यक्ज्ञान, सम्यक्दर्शन तथा सम्यक्चारित्र—इन तीनों का आत्मा के साथ संबंध होना योग है। वह आत्मा का मोक्ष के साथ योजन या योग करता है, इस कारण योगवेत्ताओं ने उसे योग की संज्ञा दी है। वह निश्चय-योग है। अब तक पातंजल योग स्वीकृत चित्तवृत्ति-निरोध तथा जैन-दर्शन स्वीकृत मनोवाक्काय-कर्म के अर्थ में संप्रयुक्त योग शब्द का यह तीसरा अर्थ आ० हरिभद्र ने उद्घाटित किया, जिसका युज् योजने धातु के 'जोड़ना' अर्थ से सीधा सम्बन्ध है।

ग्रन्थकार ने योगविंशिका की पहली गाथा में योग की इसी रूप में परिभाषा की है। लिखा है—

मोक्खेण (मुक्खेण) जोयणाओ जोगो
सव्वो वि धम्मवावारो।
परिसुद्धो विन्नेओ ठाणाइगओ विसेसेण॥

जो आत्मा को मोक्ष से जोड़ता है, वह सभी

१. योगबिन्दु १००।
२. योगबिन्दु ३००।
३. योगबिन्दु ४५९।
४. शास्त्रवार्तासमुच्चय २०८, २०९, २३७।
५. योगबिन्दु ५२५।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकार का धर्म-व्यापार—धर्मोपासना के वे सभी उपक्रम योग हैं। प्रस्तुत सन्दर्भ में योग का आशय आसन, ध्यान आदि से है।

योगदृष्टि समुच्चय में सामर्थ्ययोग के योगसंन्यास नामक भेद का स्वरूप समझाते हुए लिखा है—

अतस्त्वयोगो योगानां, योगः पर उदाहृतः।
मोक्षयोजनभावेन, सर्वसन्यासलक्षणः॥

यहाँ योग को मोक्षयोजनभाव के रूप में व्याख्यात किया है। अर्थात् वह आत्मा को मोक्ष से जोड़ता है, वह आत्मभाव का परमात्मभाव के साथ योजक है। यह योजकत्व ही योग की वास्तविकता है।

इस श्लोक में एक बात अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यहाँ योग द्वारा अयोग प्राप्ति—योगराहित्य स्वायत्त करने का संकेत किया गया है। अर्थात् यहाँ योग द्वारा ध्यान आदि आत्म-साधना के उपक्रमों, उपायों द्वारा योग-मानसिक, वाचिक, कायिक प्रवृत्तियों का सर्वथा निरोध कर अयोग-योगरहित बन जाने का भाव उजागर हुआ है। आत्मा की वह सर्वोत्तम उन्नतावस्था है, जहाँ वह (आत्मा) सर्वथा अपने स्वरूप में, स्वभाव में सम्प्रतिष्ठ हो जाती है। स्वरूप-सम्प्रतिष्ठान के पश्चात् कुछ करणीय बच नहीं जाता। वहाँ कर्त्ता, कर्म और क्रिया की त्रिपदी ऐक्य प्राप्त कर लेती है। वह आत्मा की देहातीतावस्था है, सहजावस्था है, परम आनन्दमय दशा है, योगसाधना की सम्पूर्ण सिद्धि है। सभी प्रवृत्तियाँ, जिनका देह, इन्द्रिय आदि से सम्बन्ध है, वहाँ स्वयं अपगत हो जाती है। यह योग द्वारा योगनिरोध-पूर्वक अयोग की उपलब्धि है। अयोग ही योगी का परम लक्ष्य है। यह तब सधता है, जब नैश्चयिक दृष्टि से आत्मा में ज्ञान की अविचल ज्योति उद्दीप्त हो जाती है, निष्ठा का सुस्थिर सम्बल स्वायत्त हो जाता है। तदनुरूप साधना सहज रूप में अधिगत हो जाती है।

योग का अधिकारी कौन हो सकता है, इस सम्बन्ध में हरिभद्र ने जो तात्त्विक समाधान दिया है, वह उनकी गहरी सूझ का एवं जैन दर्शन की मर्मज्ञता का सूचक है।

उन्होंने लिखा है—

अहिगारी पुण एत्थ विन्नेओ अपुणबंधगाइत्ति।
तह तह नियत्तपयई अहिगारोऽणेगभेओ त्ति॥९॥

अपुनर्बन्धक—चरम पुद्गलावर्त में अवस्थित पुरुष योग का अधिकारी है, ऐसा जानना चाहिये। कर्म-प्रवृत्ति की निवृत्ति—कर्म-पुद्गलों के निर्जरण की तरतमता से प्रसूत स्थितियों के अनुसार गुण-निष्पन्नता की दृष्टि से उसके अनेक भेद हो सकते हैं।

अध्यात्म-जागरण की प्रक्रिया के अन्तर्गत योग-बिन्दु[1] में भी यह प्रसंग विशद रूप में चर्चित हुआ है।

अपुनर्बन्धक तथा चरम पुद्गलावर्त के सन्दर्भ में जैन दर्शन की ऐसी मान्यता है कि जीव अनादि-काल से शरीर, मन, वचन द्वारा संसारस्थ पुद्गलों का किसी न किसी रूप में ग्रहण तथा विसर्जन करता आ रहा है। कोई जीव विश्व के समस्त पुद्गलों का एक बार किसी न किसी रूप में ग्रहण तथा विसर्जन कर चुकता है—सबका भोग कर लेता है, वह एक पुद्गल-परावर्त कहा जाता है।

यह पुद्गलों के ग्रहण-त्याग का क्रम जीव के अनादि काल से चला आ रहा है। यों सामान्यतः जीव इस प्रकार के अनन्त पुद्गल-परावर्तों में से गुजरता रहा है। यही संसार की दीर्घ शृंखला या चक्र है। इस चक्र में भटकते हुए जीवों में कई भव्य या मोक्षाधिकारी जीव भी होते हैं, जिनका कषाय-मान्द्य बढ़ता जाता है, मोहात्मक कर्म-प्रकृति की शक्ति घटती जाती है। जीव का शुद्ध स्वभाव कुछ-कुछ उद्भासित होने लगता है। ऐसी स्थिति आ जाने पर जीव की संसार में भटकने की स्थिति

१. योगबिन्दु १७६-७८।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिमित, सीमित हो जाती है। संसार के पुद्गलों को केवल एक बार किसी न किसी रूप में भोग सके, मात्र इतनी अवधि बाकी रह जाती है, उसे चरम पुद्गल परावर्त या चरमावर्त कहा जाता है।

जैन-दर्शन में प्रत्येक कर्म की जघन्य कम से कम तथा उत्कृष्ट अधिक से अधिक दो प्रकार की आवधिक स्थितियाँ मानी गयी हैं। आठ प्रकार के कर्मों में मोहनीय कर्म प्रधान है। मोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोड़ाकोड़ सागरोपम है, जिसका मुख्य कारण जीव का तीव्र कषाययुक्त होना है।

जब जीव चरम-पुद्गल-परावर्त-स्थिति में होता है, उस समय कषाय बहुत ही मन्द रहते हैं। फलतः वह फिर सत्तर कोड़ाकोड़ सागरोपम स्थिति के मोहनीय कर्म का बन्ध नहीं करता। उसे अपुनर्बन्धक कहा जाता है। अपुनर्बन्धकता की स्थिति पा लेने के पश्चात् जीवन सन्मार्गाभिमुख हो जाता है। उसकी मोहरागमयी कर्म-ग्रन्थी टूट जाती है। सम्यक्दर्शन प्राप्त हो जाता है।

साधक की यह वह स्थिति है, जब वह योग-साधना के योग्य हो जाता है, किन्तु योग-मार्ग पर आरूढ़ होने के लिए, उस पर अनवरत गतिशील रहने हेतु कुछ और चाहिए। वह है ऐसे सात्विक, सौम्य, विनीत, सेवासम्पृक्त, करुणाशील जीवन की उर्वर पृष्ठभूमि, जिसमें योग के बीज अंकुरित, उद्गत, अभिवर्द्धित, पुष्पित एवं फलित हो सकें। इसके लिए आ० हरिभद्र ने योगबिन्दु में पूर्वसेवा के रूप में वैसे सद्गुणों का विवेचन किया। योग-शतक में ग्रन्थकार ने "पूर्वसेवा" पद का प्रयोग तो नहीं किया है, किन्तु व्यवहार योग, योगाधिकारी की पहचान, मार्ग दर्शन, कर्तव्य बोध आदि के रूप में वही सब कहा है, जो पूर्व सेवा में प्रतिपादित है। लिखा है—

गुरु-विणओ सुस्सूसाइया य विहिणा उ धम्मसत्थेसु।
तह चेवाणुट्ठाणं विहि-पडिसेहेसु जहसत्ती ॥५॥

धर्मशास्त्रों में निरूपित विधि के अनुरूप गुरुजन का विनय, शुश्रूषा-सेवा, परिचर्या करे, उनसे तत्त्व ज्ञान सुनने की उत्कण्ठा रखे तथा अपनी क्षमता के अनुरूप शास्त्रोक्त विधि-निषेध का पालन करे अर्थात् शास्त्र-विहित का आचरण करे, शास्त्र-निषिद्ध का आचरण न करे।

पावं न तिव्वभावा कुणइ न बहु मन्नई भवं घोरं।
उचियदिठइं च सेवइ सव्वथ वि अपुणबंधो त्ति ।१३।

अपुनर्बन्धक तीव्र भाव-उत्कट कलुषित भावना-पूर्वक पाप-कर्म नहीं करता, घोर-भीषण, भयावह संसार को बहुत नहीं मानता। उसमें आसक्त—रचा-पचा नहीं रहता। लौकिक, सामाजिक, पारिवारिक, वैयक्तिक, धार्मिक—सभी कार्यों में उचित स्थिति—न्यायपूर्ण मर्यादा का पालन करता है।

पढमस्स लोकधम्मे परपीडावज्जणाइ ओहेणं।
गुरुदेवातिहिपूयाइ दीणदाणाइ अहिगिच्च ॥२५॥

प्रथम भूमिका का साधक दूसरों को पीड़ा न दे। गुरु, देव तथा अतिथि का सत्कार करे, दीन जनों को दान दे, सहयोग करे।

आ० हरिभद्र के अनुसार ये लोक-धर्म हैं, जो प्रथम भूमिका के साधक के लिए अनुसरणीय है। आगे उन्होंने कहा है—

सदधम्माणुवरोहा वित्ती दाणं च तेण सुविसुद्धं।
जिणपूय-भोयणविही संझा-नियमो य जोगं तु ॥
चियवंदण-जइविस्सामणा य सवणं
च धम्मविसयंति।
गिहिणो इमो वि जोगो किं पुण जो
भावणा-मग्गो ॥३०,३१॥

सद्धर्म के अनुपरोधपूर्वक—सद्धर्म की आराधना में बाधा न आए, यह ध्यान में रखते हुए गृही साधक अपनी आजीविका चलाए, विशुद्ध-निर्दोष दान दे, जिनेश्वरदेव—वीतराग प्रभु की पूजा करे, यथाविधि—यथानियम भोजन करे, सायंकालीन उपासना के नियमों का पालन करे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चैत्य-वन्दन, यति-संयमी साधु को स्थान, पात्र आदि का सहयोग, उनसे धर्म-श्रवण इत्यादि सत्कार्य करे, भावना-मार्ग का—बारह भावनाओं का एवं मैत्री, मुदिता, करुणा तथा माध्यस्थ्य भावना का अभ्यास करे।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि भावनाएँ चैतसिक परिष्कार का अनन्य हेतु हो सकती हैं, यदि उनका यथाविधि योग की पद्धति से अभ्यास किया जाए। ऐसा प्रतीत होता है, जैन परम्परा में कभी भावनाओं के अभ्यास का कोई वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक क्रम रहा हो, जो हमें आज उपलब्ध नहीं है।

योगबिन्दु और योगशतक में शील, सदाचार आदि लोकधर्मों के परिपालन की जो विस्तार से चर्चा की गयी है, उसका एक ही अभिप्राय है, साधक जीवन में मानवोचित शालीनता सहज रूप में स्वायत्त कर सके, जिससे आगे वह योग-साधना की लम्बी यात्रा में अविश्रान्त रूप में बढ़ता जा सके।

इसी आशय को स्पष्ट करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है—

एवं चिय अवयारो जायइ मग्गम्मि हंदि एयस्स।
रण्णे पहपब्भट्ठो वट्टाए वट्टमोयरइ ॥२६॥

जैसे वन में मार्ग भूले हुए पथिक को पगडंडी बतला दी जाए तो उससे वह अपने सही पथ पर पहुँच जाता है, वैसे ही वह साधक लोक-धर्म के माध्यम से अध्यात्म में पहुँच जाता है।

लोक धर्म और अध्यात्म का समन्वय जीवन की समग्रता है। जहाँ यह नहीं होती, वह जीवन का खण्डित रूप है, जिससे साध्य नहीं सधता। इसी तथ्य को आत्मसात् कराने हेतु हरिभद्र ने अनेक रूपों में इसकी चर्चा की है।

उन्होंने योगशतक में आगे द्वितीय और तृतीय श्रेणी के साधकों की चर्चा की है, जहाँ उत्तरोत्तर लोकोत्तर धर्म—संयम, व्रत तथा सामायिक साधना से साधक को जोड़ने का उनका अभिप्रेत है।[1]

जैन साधना में सामायिक का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। वह चारित्र का मुख्य अंग है।

आ० हरिभद्र ने सामायिक को योग की भूमिका में परिगृहीत कर उसे जो सम्मार्जित, संस्कारित रूप प्रदान किया, वह उनकी गहरी सूझ का परिचायक है। उन्होंने सामायिक को अशुद्धि से बचाने पर बड़ा जोर दिया है। कहा है—

पडिसिद्धेसु य देसे विहिएसु य ईसिरागभावे वि।
सामाइयं असुद्धं सुद्धं समयाए दोसु पि ॥१७॥

शास्त्रों में जिनका प्रतिषेध निषेध किया गया है, ऐसे विषयों-कार्यों में द्वेष तथा शास्त्रों में जिनका विधान किया गया है, उनमे थोड़ा भी राग सामायिक को अशुद्ध बना देते हैं, जो इन दोनों में—निषिद्ध तथा विहित में समभाव रखता है, उससे सामायिक शुद्ध होती है।

आ० हरिभद्र ने इस गाथा द्वारा साधक को चिन्तन की उस पवित्रतम भूमिका से जोड़ने का प्रयत्न किया है, जहाँ मन समता-रस में इतना आप्लुत हो जाए कि वह पाप से अप्रीति या घृणा तथा पुण्य से प्रीति या आसक्ति से ऊँचा उठ सके।

जैन-दर्शन कर्म सिद्धान्त पर टिका है। अतः ग्रन्थकार ने ५३ से ५८ गाथा तक छह गाथाओं में कर्मवाद का संक्षिप्त किन्तु बड़ा बोधप्रद विश्लेषण किया है।

राग, द्वेष, मोह आदि दोषों के परिहार हेतु साधक अपने चिन्तन को कैसा मोड़ दे, इस पर सूक्ष्म विश्लेषण करते हुए ग्रन्थकार ने बतलाया है कि राग अभिसंग—आसक्तता—प्रीतिमत्ता से जुड़ा

---

१. योगशतक २७-२६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है तथा द्वेष अप्रीति से। ये दोनों ही मोह-प्रसूत अवस्थाएँ हैं। साधक यह दृष्टि में रखते हुए गहराई से विचार करे कि इनमें मुझे दृढ़ता से डटकर, अत्यधिक रूप में कौन पीड़ित कर रहा है? यह समझता हुआ उन दोषों के स्वरूप, परिणाम, विपाक आदि पर एकान्त में एकाग्र मन से भली-भाँति चिन्तन करें।[1]

यह चिन्तन की अन्तःस्पर्शी सूक्ष्म प्रक्रिया है, जो साधक को शक्ति, अन्तःस्फूर्ति प्रदान करती है।

आगे उन्होंने प्रत्येक दोष के प्रतिपक्षी भावों पर गहराई से सोचते हुए दोष-मुक्त होने का मार्ग प्रशस्त किया है।[2]

समग्र चिन्तन, चर्या एवं अभ्यास—ये सब शाश्वत जैन सिद्धान्तों की धुरी पर टिके रहें, अतएव उन्होंने प्रसंगोपात्त रूप में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य का संक्षेप में तात्त्विक शैली में निरूपण किया है, ताकि साधक की मनोभूमि सत्योन्मुख दृढ़ता से परिपोषित रहें।[3]

आहार-शुद्धि पर प्रकाश डालते हुए ग्रन्थकार ने गृह-त्यागी साधकों को, जिनका जीवन भिक्षाचर्या पर आधृत है, जो समझाया है, वह बड़ा बोधप्रद है। उन्होंने भिक्षा को व्रण-लेप से उपमित किया है। फोड़े पर, उसे मिटाने हेतु जैसे किसी दवा का लेप किया जाता है, उसी प्रकार क्षुधा, तृषा आदि मिटाने हेतु भिक्षा ग्रहण की जाती है, दवा कितनी ही कीमती हो, फोड़े पर उतनी ही लगायी जाती है, जितनी आवश्यक हो। उसी प्रकार भिक्षा में प्राप्त हो रहे खाद्य, पेय आदि पदार्थ कितने ही सुस्वादु एवं सरस क्यों न हों, वे अनासक्त भाव से उतने ही स्वीकार किये जाएँ, जितनी आवश्यकता हो। ऐसा न करने पर भिक्षा सदोष हो जाती है।

ज्यों-ज्यों योगांगों की सिद्धि होती जाती है, योगी को अनेक सिद्धियाँ प्राप्त होती जाती हैं, जिन्हें पतंजलि ने विभूतियाँ कहा है, बौद्ध परम्परा में जो अभिज्ञाएँ कही गयी हैं, जैन परम्परा में वे लब्धियों के नाम से अभिहित हुई हैं। ग्रन्थकार ने ८३, ८४, ८५ गाथाओं में संक्षेप में रत्न आदि, अणिमा आदि आमोसहि (आमौषधि) आदि लब्धियों की ओर संकेत किया है।

ऐसा माना जाता है, जिस योगी को आमोसहि सिद्ध हो जाती है, उसके स्पर्श मात्र से रोग दूर हो जाते हैं।

योग-साधना के सार रूप में ग्रन्थकार ने मनोभाव के वैशिष्ट्य की विशेष रूप से चर्चा की है। उन्होंने बताया है कि कायिक क्रिया द्वारा—मात्र देहाश्रित बाह्य तप द्वारा नष्ट हुए दोष मण्डूक चूर्ण के समान हैं। वे ही दोष यदि भावना द्वारा, शुद्ध अन्तर्वृत्ति या मानसिक परिशुद्धि द्वारा क्षीण किये गये हों तो मण्डूक-भस्म के समान हैं।

मण्डूक-चूर्ण तथा मण्डूक-भस्म का उदाहरण कायिक क्रिया एवं भावनानुगत क्रिया का भेद स्पष्ट करने के लिए प्राचीन दार्शनिक साहित्य में प्रयोग में आता रहा है। ऐसा माना जाता है कि मेंढक के शरीर के टुकड़े-२ हो जाएँ तो भी नई वर्षा का जल गिरते ही उसके शरीर के वे अंग परस्पर मिलकर सजीव मेंढ़क के रूप में परिणत हो जाते हैं। यदि मेंढ़क का शरीर जलकर राख हो जाए तो फिर चाहे कितनी ही वर्षा हो, वह पुनः सजीव नहीं होता।

योगसूत्र के टीकाकार वाचस्पति मिश्र ने अपनी टीका (तत्ववैशारदी) में इस उदाहरण का उल्लेख किया है।

ग्रन्थकार ने मनःशुद्धि या मनोजय पर बड़ा जोर

---

१. योगशतक ५६-६०।
२. योगशतक ६७-७०।
३. योगशतक ७२-७३।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दिया है। उन्होंने बोधिसत्त्व का उदाहरण देते हुए बताया है कि वे कामपाती होते हैं, चित्तपाती नहीं होते। क्योंकि उत्तम आशय—भाव या अभिप्राय के कारण उनकी भावना—चित्त—स्थिति शुद्ध होती है।

यहाँ कहने का आशय यह है कि जब तक देह है, कर्म का सर्वथा निरोध नहीं हो सकता, किन्तु मन या भावना का परिष्कार हो सकता है, जिसके लिये साधक सतत् सप्रयत्न, सचेष्ट रहे, वहाँ विकार न आने पाये।

इस प्रकार आ० हरिभद्रसूरि ने प्रस्तुत ग्रन्थ के केवल १०१ श्लोकमय छोटे से कलेवर में योग के सन्दर्भ में बोधात्मक, तुलनात्मक दृष्टि से इतना कुछ कह दिया है, जो साधना की यात्रा हेतु समुद्यत योगी के लिए एक दिव्य पाथेय सिद्ध हो सकता है।

योगविंशिका—

आचार्य हरिभद्रसूरि की प्राकृत में योग पर दूसरी कृति योगविंशिका है।

भारतीय वाङ्मय में बीस-बीस, तीस-तीस आदि पद्यों की पुस्तकात्मक रचनाओं का एक विशेष क्रम रहा है। बौद्ध जगत् के सुप्रसिद्ध लेखक वसुबन्धु ने विंशिका—त्रिंशिका के रूप में पुस्तक-रचना की, जिनमें उन्होंने विज्ञानवाद का विवेचन किया।

किसी विषय को समग्रतया बहुत ही संक्षेप में व्याख्यान करने की दृष्टि से विंशिकाओं की पद्धति को उपयोगी माना गया। आ० हरिभद्र ने इसी प्राचीन शैली के अनुरूप बीस विंशिकाओं की रचना की। वे सब प्राकृत भाषा में हैं। उनमें १७वीं विंशिका योगविंशिका है। इसमें आर्या छन्द का प्रयोग हुआ है। रचनाकार ने केवल बीस गाथाओं में योग के सारभूत तत्त्वों को उपस्थित करने का प्रस्तुत पुस्तक में जो विद्वत्तापूर्ण प्रयत्न किया है, वह गागर में सागर संजोने जैसा है। इस पर उपाध्याय यशोविजय ने टीका की रचना की, जो प्रस्तुत कृति में अति संक्षेप में प्रतिपादित विषयों के स्पष्टीकरण की दृष्टि से बहुत उपयोगी है।

योगविंशिका की प्रथम गाथा में लेखक ने आत्मा का मोक्ष से योजन रूप योग का लक्षण बतलाकर उसके भेदों की ओर इंगित किया है।

दूसरी गाथा में उन्होंने योग के भेदों का विश्लेषण करते हुए कहा है—

ठाणुन्नत्थालंबणरहिओ तन्तम्मि पंचहा एसो।
दुगमित्थकम्मजोगो तहा तियं नाणजोगो उ ॥२॥

तन्त्र में—योगप्रधान शास्त्र में स्थान, ऊर्ण, अर्थ, आलम्बन तथा अनावलम्बन—योग के पाँच भेद बताये हैं। इनमें पहले दो—स्थान और ऊर्ण को कर्मयोग तथा उनके पश्चाद्वर्ती तीन—अर्थ, आलम्बन तथा अनावलम्बन को ज्ञानयोग कहा गया है। स्थान—स्थान का अर्थ स्थित होना है। योग में आसन शब्द जिस अर्थ में प्रचलित है, यहाँ स्थान शब्द उसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

वास्तव में आसन के लिए स्थान शब्द का प्रयोग विशेष संगत तथा युक्तिपूर्ण है। आसन का अर्थ बैठना है। सब आसन बैठकर नहीं किये जाते। कुछ आसन बैठकर, कुछ सोकर तथा कुछ खड़े होकर किए जाते हैं। देह की विभिन्न स्थितियों में अवस्थित होना स्थान शब्द से अधिक स्पष्ट होता है।

ऊर्ण—योगाभ्यास के सन्दर्भ में प्रत्येक क्रिया के साथ जो सूत्र—संक्षिप्त शब्द—समवाय का उच्चारण किया जाता है, उसे ऊर्ण कहा जाता है।

ऊर्ण को एक अपेक्षा से पातंजल योग-सम्मत जप-स्थानीय[1] माना जा सकता है।

अर्थ—शब्द-समवाय-गर्भित अर्थ के अवबोध का व्यवसाय—प्रयत्न यहाँ अर्थ शब्द से अभिहित हुआ है।

आलम्बन—ध्यान में बाह्य प्रतीक आदि का आधार आलम्बन है।

१. योगसूत्र १.२८।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हेमचन्द्र के योगशास्त्र,[1] शुभचन्द्र के ज्ञानार्णव[2] तथा भास्करनन्दी के ध्यानस्तव[3] आदि में वर्णित पिण्डस्थ, पदस्थ एवं रूपस्थ ध्यान से यह तुलनीय है।

अनालम्बन—ध्यान में रूपात्मक पदार्थों का सहारा न लेना अनावलम्बन कहा गया है। योग-शास्त्र[4], ज्ञानार्णव[5] तथा ध्यानस्तव[6] में वर्णित रूपातीत ध्यान से इसकी तुलना की जा सकती है।

आ० हरिभद्र ने योग के इन पाँच भेदों में से प्रत्येक के इच्छा, प्रवृत्ति, स्थिरता एवं सिद्धि के रूप में चार-चार भेद और किये हैं। यों योग के बीस भेद हो जाते हैं।

इनकी व्याख्या करते हुए उन्होंने बताया है कि योगाराधक सत्पुरुषों—योगियों की चर्चा में प्रीति, स्पृहा, उत्कण्ठा का होना इच्छायोग है।

नवाभ्यासी के मन में ऐसी स्पृहा का उदित होना उसके उज्ज्वल भविष्य का सूचन है।

प्रवृत्ति—

उपशम भावपूर्वक योग का यथार्थ रूप में पालन प्रवृत्ति-योग है।

स्थिरता—

आत्मबल द्वारा, बाधा-जनक स्थितियों की चिन्ता से अतीत होकर सुस्थिर रूप से योग का प्रतिपालन स्थिरतायोग है।

सिद्धि—

साधक जब उपर्युक्त पंचविध योग साध चुकता है, तब वह न केवल स्वयं ही आत्म-शान्ति का अनुभव करता है, वरन् जो भी उस योगी के सम्पर्क में आते हैं, सहज रूप में उससे उत्प्रेरित होते हैं। योगी की उस स्थिति को सिद्धियोग कहा जाता है।

आ० हरिभद्र के अनुसार जो पुरुष पूर्वोक्त रूप में योगाभिरत है, उसका अनुष्ठान सदनुष्ठान कहा जाता है।

सदनुष्ठान को उन्होंने चार प्रकार का बतलाया है—१. प्रीति-अनुष्ठान, २, भक्ति-अनुष्ठान, ३. आगमानुष्ठान तथा ४. असंगानुष्ठान।

योग के पूर्वोक्त बीस भेदों में से प्रत्येक के ये चार-चार भेद और होते हैं। इस प्रकार उसके अस्सी भेद हो जाते हैं।

योगाभ्यास के सन्दर्भ में आ० हरिभद्र द्वारा किये गये योग के ये भेद साधक को योगसाधना की सूक्ष्मता में जाने की प्रेरणा प्रदान करते हैं। इनका सूक्ष्मता से संस्पर्श कर साधक अपने में आत्म-स्फूर्ति का अनुभव करता है। फलतः वह योग के मार्ग पर उत्तरोत्तर, अधिकाधिक प्रगति करता जाता है।

योगविंशिका में गाथा १० से १४ तक आ० हरिभद्र ने योग के परिप्रेक्ष्य में चैत्य-वन्दन के सम्बन्ध में चर्चा की है, जिसका योग से कोई सीधा सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता।

वे चैत्यवन्दन सूत्र की सार्थकता अर्थयोग और आलम्बन योग को साध लेने से ही मानते हैं। अर्थ-योग सम्यक् अर्थ के अवबोध की दिशा में चिन्तन-परक उपक्रम है और आलम्बन योग प्रतीक-विशेष के सहारे ध्यान-प्रक्रिया।

अर्थ और आलम्बन योग जहाँ सिद्ध हो जाते हैं, वहाँ चैत्यवन्दन साक्षात् मोक्ष-हेतु से जुड़ जाता है।

जहाँ स्थान एवं ऊर्ण योग ही सिद्ध होते हैं, अर्थ एवं आलम्बन नहीं, वहाँ चैत्य-वन्दन मोक्ष का साक्षात् हेतु तो नहीं बनता, परम्परा से वह मोक्ष हेतु होता है। आगे उन्होंने लिखा है—

---

१. योगशास्त्र, प्रकाश ७-९।
२. ज्ञानार्णव सर्ग ३७-३९।
३. ध्यानस्तव २४-३१।
४. योगशास्त्र १०.५।
५. ज्ञानार्णव सर्ग ४०।
६. ध्यानस्तव ३२-३६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो व्यक्ति अर्थयोग एवं आलम्बन योग से रहित है, जिसने स्थान-योग और ऊर्ण-योग भी नहीं साधा है, उसका चैत्यवन्दनमूलक अनुष्ठान केवल कायिक चेष्टा है अथवा महामृषावाद है—निरी मिथ्या प्रवंचना है, इसलिए अधिकारी-सुयोग्य व्यक्तियों को ही चैत्यवन्दन सूत्र का शिक्षण देना चाहिये।[1] जो देशविरतियुक्त हैं—आंशिक रूप में व्रतयुक्त हैं, वे ही इसके सच्चे अधिकारी हैं। क्योंकि चैत्यवन्दन सूत्र में "कायं वोसरामि" देह का व्युत्सर्ग करता हूँ, इन शब्दों से कायोत्सर्ग की जो प्रतिज्ञा प्रकट होती है, वह सुव्रती के विरतिभाव या व्रत के कारण ही घटित होती है—इस सत्य को भलीभांति समझ लेना चाहिये।[2]

साथ ही साथ इस सन्दर्भ में इतना और ज्ञातव्य है कि देशविरत से उच्च सर्वविरत साधक तत्त्वतः इसके अधिकारी हैं तथा देशविरति से निम्न स्थानवर्ती अपुनर्बन्धक या सम्यक्दृष्टि व्यवहारतः इसके अधिकारी माने गये हैं।

आ० हरिभद्र को योग जैसे विषय के अन्तर्गत चैत्यवन्दन जैसे विषय को इतने विशद रूप से व्याख्यात करना, प्रस्तुत विषय से सम्पृक्त करना, क्यों आवश्यक प्रतीत हुआ, इसका एक कारण है। वह युग चैत्यवासियों का युग था, जिनमें आचारशून्यता व्याप्त हो रही थी, जो केवल साधुत्व का वेष धारण किये हुए थे, साधुत्व के नियमों का बिलकुल पालन नहीं करते थे, चैत्यों में निवास करते थे और उनका धर्म लगभग चैत्यवन्दन तक ही सीमित हो गया था। साधु समाज की इस अधःपतित दशा से आ० हरिभद्र बड़े चिन्तित थे। उन्होंने उनको जगाने के लिए संबोध-प्रकरण नामक ग्रन्थ की रचना की। वहाँ उनके आचार आदि के बारे में लिखा है—

वे साधु भिन्न-भिन्न प्रकार के रंग-बिरंगे, सुन्दर, धूपवासित वस्त्र धारण करते हैं। जिस श्रमण संघ में ऐसा होता है उसके साधुओं में साधुत्व का मूल गुण ही नहीं रहता।

वे स्त्रियों के समक्ष गाते हैं, अंटसंट बोलते हैं, मानो वे अनियन्त्रित बैल हों। वे अशुद्ध आहार लेते हैं। जल, फल, पुष्प आदि सचित्त पदार्थ, स्निग्ध व मधुर पदार्थ तथा लौंग, ताम्बूल आदि का सेवन करते हैं। नित्य दो-तीन बार भोजन करते हैं।

वे चैत्य, मठ आदि में निवास करते हैं। पूजा में आरम्भ समारंभ—हिंसा आदि सावद्य कार्य करते हैं, देव-द्रव्यों का भोग करते हैं। जिन-गृह और शाला आदि का निर्माण करते हैं।

वे ज्योतिष बतलाते हैं, भविष्य कथन करते हैं, चिकित्सा करते हैं। मंत्र-टौना-टोटका करते हैं—जो कार्य पापजनक हैं, नरक के हेतु हैं।[3]

संबोध-प्रकरण के इस वर्णन से साधु-संस्था की हीयमान चारित्रिक स्थिति का पता चलता है। वे, जैसा पहले संकेत किया गया है, चैत्यों में आसक्त थे। चैत्यवंदन के नाम पर अपने आपको धार्मिक सिद्ध करने के सिवाय उनके पास चारित्र्य नाम की कोई वस्तु बच नहीं पायी थी। उनको सन्मार्ग पर लाने के लिए हरिभद्र ने चैत्यवन्दन के साथ योग को जोड़ा है। जहाँ योग नहीं, वहाँ चैत्यवन्दन की प्रक्रिया नितान्त स्थूल है, बाह्य है। उससे धर्म की आराधना कभी सध नहीं सकती।

आ० हरिभद्र केवल एक महान् ग्रन्थकार ही नहीं थे, वे एक क्रान्तिकारी धर्मनायक भी थे।

अस्तु—निश्चय ही योग के क्षेत्र में आ० हरिभद्र की वह महान् देन है, जो सदा स्मरणीय रहेगी। प्रस्तुत निबन्ध में योगशतक और योगविंशिका—उनकी दो प्राकृत कृतियों के आधार पर जो कहा गया है, वह तो एक संकेत मात्र है। आशा है, प्रस्तुत विषय विद्वज्जन को गहन अनुशीलन और अनुसंधान की दिशा में प्रेरित करेगा।

○

१. योगविंशिका १७।

२. योगविंशिका १८।

३. संबोध प्रकरण ४६, ४९, ५७, ६१, ६३।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org